

आवश्यक क्रिया

वैदिकसमाज में 'सन्ध्या' का, पारसी लोगों में 'खोर देह अबस्ता' का, यहूदी तथा ईसाइयों में 'प्रार्थना' का और मुसलमानों में 'नमाज' का जैसा महत्त्व है; जैन समाज में वैसा ही महत्त्व 'आवश्यक' का है।

जैन समाज की मुख्य दो शाखाएँ हैं, (१) श्वेताम्बर और (२) दिगम्बर। दिगम्बर-सम्प्रदाय में मुनि-परंपरा विच्छिन्न-प्रायः है। इसलिए उसमें मुनियों के 'आवश्यक-विधान' का दर्शन सिर्फ शास्त्र में ही है, व्यवहार में नहीं है। उसके श्रावक-समुदाय में भी 'आवश्यक' का प्रचार वैसा नहीं है, जैसा श्वेताम्बर-शाखा में है। दिगम्बर समाज में जो प्रतिमाधारी या ब्रह्मचारी आदि होते हैं, उनमें मुख्यतया सिर्फ 'सामायिक' करने का प्रचार देखा जाता है। शृङ्खलाबद्ध रीति से छहों 'आवश्यकों' का नियमित प्रचार जैसा श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। वैसा दिगम्बर-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् दिगम्बर-सम्प्रदाय में सिलसिलेवार छहों 'आवश्यक' करने की परम्परा दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चतुर्मासिक और साम्यत्सरिक-रूप से वैसी प्रचलित नहीं है, जैसी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में प्रचलित है।

यानी जिस प्रकार श्वेताम्बर-सम्प्रदाय सांयकाल, प्रातःकाल, प्रत्येक पक्ष के अन्त में, चातुर्मास के अन्त में और वर्ष के अन्त में स्त्रियों का तथा पुरुषों का समुदाय अलग-अलग या एकत्र होकर अथवा अन्त में अकेला व्यक्ति ही सिलसिले से छहों 'आवश्यक' करता है, उस प्रकार 'आवश्यक' करने की रीति दिगम्बर-सम्प्रदाय में नहीं है।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की भी दो प्रधान शाखाएँ हैं—(१) मूर्तिपूजक और (२) स्थानकवासी। इन दोनों शाखाओं की साधु-श्रावक—दोनों संस्थाओं में दैवसिक, रात्रिक आदि पाँचों प्रकार के 'आवश्यक' करने का नियमित प्रचार अधिकारानुरूप बराबर चला आता है।

मूर्तिपूजक और स्थानकवासी—दोनों शाखाओं के साधुओं को तो सुबह-शाम अनिवार्यरूप से 'आवश्यक' करना ही पड़ता है; क्योंकि शास्त्र में ऐसी आज्ञा है कि प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधु 'आवश्यक' नियम से करें। अतएव यदि वे उस आज्ञा का पालन न करें तो साधु-पद के अधिकारी ही नहीं समझे जा सकते।

आवकों में 'आवश्यक' का प्रचार वैकल्पिक है। अर्थात् जो भावुक और नियमवाले होते हैं, वे अवश्य करते हैं और अन्य आवकों की प्रवृत्ति इस विषय में ऐच्छिक है। फिर भी यह देखा जाता है कि जो नित्य 'आवश्यक' नहीं करता, वह भी पद्म के बाद, चतुर्मास के बाद या आखिरकार संवत्सर के बाद, उसको यथासम्भव अवश्य करता है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में 'आवश्यक क्रिया' का इतना आदर है कि जो व्यक्ति अन्य किसी समय धर्मस्थान में न जाता हो, वह तथा छोटे-बड़े बालक-बालिकाएँ भी बहुधा साम्बत्सरिक पर्व के दिन धर्मस्थान में 'आवश्यक-क्रिया' करने के लिए एकत्र हो ही जाते हैं और उस क्रिया को करके सभी अपना अहोभाग्य समझते हैं। इस प्रवृत्ति से यह स्पष्ट है कि 'आवश्यक-क्रिया' का महत्त्व श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में कितना अधिक है। इसी सबब से सभी लोग अपनी सन्तति को धार्मिक शिक्षा देते समय सबसे पहिले 'आवश्यक-क्रिया' सिखाते हैं।

जन-समुदाय की सादर प्रवृत्ति के कारण 'आवश्यक-क्रिया' का जो महत्त्व प्रमाणित होता है, उसको ठीक-ठीक समझाने के लिए 'आवश्यक-क्रिया' किसे कहते हैं? सामायिक आदि प्रत्येक 'आवश्यक' का क्या स्वरूप है? उनके भेद-क्रम की उपपत्ति क्या है? 'आवश्यक-क्रिया' आध्यात्मिक क्यों है? इत्यादि कुछ मुख्य प्रश्नों के ऊपर तथा उनके अन्तर्गत अन्य प्रश्नों के ऊपर इस जगह विचार करना आवश्यक है।

परन्तु इसके पहिले यहाँ एक बात बतला देना जरूरी है। और वह यह है कि 'आवश्यक-क्रिया' करने की जो विधि चूर्णि के जमाने से भी बहुत प्राचीन थी और जिसका उल्लेख श्रीहरिमद्रसूरि—जैसे प्रतिष्ठित आचार्य ने अपनी आवश्यक-वृत्ति पृ०, ७६० में किया है। वह विधि बहुत अंशों में अपरिवर्तित रूप से ज्यों की त्यों जैसी श्वेताम्बर-मूर्त्तिपूजक-सम्प्रदाय में चली आती है, वैसी स्थानक-वासी-सम्प्रदाय में नहीं है। यह बात तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि गच्छों की सामाचारी देखने से स्पष्ट मालूम हो जाती है। स्थानकवासी-सम्प्रदाय की सामाचारी में जिस प्रकार 'आवश्यक-क्रिया' में बोले जानेवाले कई प्राचीन सूत्रों की, जैसे—पुम्बरवरदीवङ्गटे, सिद्धार्ण बुद्धार्ण, अरिहंतचेइयाणं, आयरियउवज्भाए, अम्बुडियोऽहं, इत्यादि की काट-छाँट कर दी गई है, इसी प्रकार उसमें प्राचीन विधि की भी काट-छाँट नजर आती है। इसके विपरीत तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि की सामाचारी में 'आवश्यक' के प्राचीन सूत्र तथा प्राचीन विधि में कोई परिवर्तन किया हुआ नजर नहीं आता। अर्थात् उसमें 'सामायिक-आवश्यक' से लेकर यानी प्रतिक्रमण की स्थापना से लेकर 'प्रत्याख्यान' पर्यन्त के छहों

‘आवश्यक’ के सूत्रों का तथा बीच में विधि करने का सिलसिला बहुधा वही है, जिसका उल्लेख श्रीहरिभद्रसुरि ने किया है ।

यद्यपि प्रतिक्रमण-स्थापन के पहले चैत्य-बन्दन करने की और छुटे ‘आवश्यक’ के बाद सज्भाय, स्तवन, स्तोत्र आदि पढ़ने की प्रथा पीछे सकारण प्रचलित हो गई है; तथापि मूर्तिपूजक-सम्प्रदाय की ‘आवश्यक-क्रिया’-विषयक सामान्यारी में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसमें ‘आवश्यकों’ के सूत्रों का तथा विधि का सिलसिला अभी तक प्राचीन ही चला आता है ।

‘आवश्यक’ किसे कहते हैं ?

जो क्रिया अवश्य करने योग्य है, उसी को “आवश्यक” कहते हैं । ‘आवश्यक-क्रिया’ सब के लिए एक नहीं, वह अधिकारी-भेद से जुदी-जुदी है । एक व्यक्ति जिस क्रिया को आवश्यक कर्म समझकर नित्यप्रति करता है, दूसरा उसी को आवश्यक नहीं समझता । उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति काञ्चन-कामिनी को आवश्यक समझ कर उसकी प्राप्ति के लिए अपनी सारी शक्ति खर्च कर डालता है और दूसरा काञ्चन-कामिनी को अनावश्यक समझता है और उसके संग से बचने की कोशिश ही में अपने बुद्धि-बल का उपयोग करता है । इसलिये ‘आवश्यक-क्रिया’ का स्वरूप लिखने के पहले यह बतला देना जरूरी है कि इस जगह किस प्रकार के अधिकारियों का आवश्यक-कर्म विचार जाता है :

सामान्यरूप से शरीर-धारी प्राणियों के दो विभाग हैं:—(१) बहिर्दृष्टि और (२) अन्तर्दृष्टि । जो अन्तर्दृष्टि हैं—जिनकी दृष्टि आत्मा की ओर मुकी है अर्थात् जो सहज सुख को व्यक्त करने के विचार में तथा प्रयत्न में लगे हुए हैं, उन्हीं के ‘आवश्यक-कर्म’ का विचार इस जगह करना है । इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि जो जड़ में अपने को नहीं भूते हैं—जिनकी दृष्टि को किसी भी जड़ वस्तु का सौन्दर्य लुभा नहीं सकता, उनका ‘आवश्यक-कर्म’ वही हो सकता है, जिसके द्वारा उनका आत्मा सहज सुख का अनुभव कर सके । अन्तर्दृष्टि वाले आत्मा सहज सुख का अनुभव तभी कर सकते हैं, जब कि उनके सम्यक्त्व, चेतना, चारित्र्य आदि गुण व्यक्त हों । इसलिए वे उस क्रिया को अपना ‘आवश्यक-कर्म’ समझते हैं, जो सम्यक्त्व आदि गुणों का विकास करने में सहायक हो । अतएव इस जगह संक्षेप में ‘आवश्यक’ की व्याख्या इतनी ही है कि ज्ञानादि गुणों को प्रकट करने के लिए जो क्रिया अवश्य करने के योग्य है, वही ‘आवश्यक’ है ।

ऐसा ‘आवश्यक’ ज्ञान और क्रिया—उभय परिणामरूप अर्थात् उपयोग-पूर्वक की जानेवाली क्रिया है । यही कर्म आत्मा को गुणों से वासित कराने

वाला होने के कारण 'आवासक' भी कहलाता है। वैदिकदर्शन में 'आवश्यक' समझे जानेवाले कर्मों के लिए 'नित्यकर्म' शब्द प्रसिद्ध है। जैनदर्शन में 'अवश्य-कर्तव्य' ध्रुव, निग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्क, वर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जो कि 'आवश्यक' शब्द के समानार्थक—पर्याय हैं (आ० वृत्ति, पृ० ५३)।

सामायिक आदि प्रत्येक 'आवश्यक' का स्वरूप—स्थूल दृष्टि से 'आवश्यक क्रिया' के छह विभाग—भेद किये गए हैं—(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान।

(१) राग और द्वेष के वश न होकर समभाव—मध्यस्थ—भाव में रहना अर्थात् सबके साथ आत्मतुल्य व्यवहार करना 'सामायिक' है (आ० नि०, गा० १०३२)। इसके (१) सम्यक्त्वसामायिक, (२) श्रुतसामायिक और (३) चारित्र सामायिक, ये तीन भेद हैं, क्योंकि सम्यक्त्व द्वारा, श्रुत द्वारा या चारित्र द्वारा ही समभाव में स्थिर रहा जा सकता है। चारित्रसामायिक भी अधिकारी की अपेक्षा से (१) देश और (२) सर्व, यों दो प्रकार का है। देश सामायिक-चारित्र गृहस्थों को और सर्वसामायिकचारित्र साधुओं को होता है (आ० नि०, गा० ७६६)। समता, सम्यक्त्व, शान्ति, सुविहित आदि शब्द सामायिक के पर्याय हैं (आ० नि०, गा० १०३३)।

(२) चतुर्विंशतिस्तव—चौबीस तीर्थंकर, जो कि सर्वगुण-सम्पन्न आदर्श हैं, उनकी स्तुति करने रूप है। इसके (१) द्रव्य और (२) भाव, ये दो भेद हैं। पुष्प आदि सार्विक वस्तुओं के द्वारा तीर्थंकरों की पूजा करना 'द्रव्यस्तव' और उनके वास्तविक गुणों का कीर्तन करना 'भावस्तव' है (आ०, पृ० ४६३)। अधिकारी-विशेष गृहस्थ के लिए, द्रव्यस्तव कितना लाभदायक है, इस बात को विस्तारपूर्वक आवश्यक निरुक्ति, पृ० ४६२-४६३ में दिखाया है।

(३) वंदन—मन, वचन शरीर का वह व्यापार वंदन है, जिससे पूज्यों के प्रति बहुमान प्रगट किया जाता है। शास्त्र में वंदन के चित्ति-कर्म, कृत्ति-कर्म, पूजा-कर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध हैं (आ० नि०, गा० ११०३)। वंदन के यथार्थ स्वरूप जानने के लिए वंद्य कैसे होने चाहिए? वे कितने प्रकार के हैं? कौन-कौन अवंद्य है? अवंद्य-वंदन से क्या दोष है? वंदन करने के समय किन-किन दोषों का परिहार करना चाहिए, इत्यादि बातें जानने योग्य हैं।

द्रव्य और भाव उभय—चारित्रसम्पन्न मुनि ही वन्द्य है (आ० नि०, गा० ११०६)। वन्द्य मुनि (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक, (४) स्थविर और (५) रत्नाधिक रूप से पाँच प्रकार के हैं (आ० नि०, गा० ११६५)।

जो द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग एक-एक से या दोनों से रहित है, वह अवन्द्य है। अवन्दनीय तथा वन्दनीय के संबन्ध में सिक्के की चतुर्भङ्गी प्रसिद्ध है (आ० नि०, गा० ११३८)। जैसे चाँदी शुद्ध हो पर मोहर ठीक न लगी हो तो वह सिक्का ग्राह्य नहीं होता। वैसे ही जो भावलिङ्गयुक्त हैं, पर द्रव्यलिङ्गविहीन हैं, उन प्रत्येक बुद्ध आदि को वन्दन नहीं किया जाता। जिस सिक्के पर मोहर तो ठीक लगी है, पर चाँदी अशुद्ध है, वह सिक्का ग्राह्य नहीं होता। वैसे ही द्रव्यलिङ्गधारी होकर जो भावलिङ्गविहीन हैं वे पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के कुसाधु अवन्दनीय हैं। जिस सिक्के की चाँदी और मोहर, ये दोनों ठीक नहीं है, वह भी अग्राह्य है। इसी तरह जो द्रव्य और भाव—उभयलिङ्गरहित हैं वे वन्दनीय नहीं। वन्दनीय सिर्फ वे ही हैं, जो शुद्ध चाँदी तथा शुद्ध मोहर वाले सिक्के के समान द्रव्य और भाव—उभयलिङ्ग सम्पन्न हैं (आ० नि०, गा० ११३८)। अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को न तो कर्म की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही। बल्कि असंयम आदि दोषों के अनुमोदन द्वारा कर्मबन्ध होता है (आ० नि०, गा० ११०८)। अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करनेवाले को ही दोष होता है, यही बात नहीं, किंतु अवन्दनीय के आत्मा का भी गुणी पुरुषों के द्वारा अपने को वन्दन कराने रूप असंयम की वृद्धि द्वारा अपघात होता है (आ० नि०, गा० १११०)। वन्दन बत्तीस दोषों से रहित होना चाहिए। अनाहत आदि वे बत्तीस दोष आवश्यक-निर्युक्ति, गा० १२०७—१२११ में बतलाए हैं।

(४) प्रमादवश शुभ योग से गिर कर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभ योग को प्राप्त करना, यह 'प्रतिक्रमण'^१ है। तथा अशुभ योग को छोड़कर उत्तरोत्तर शुभ योग में वर्तना, यह भी 'प्रतिक्रमण'^२ है। प्रतिवरण, परिहरण, करण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शोधि, ये सब प्रतिक्रमण के समानार्थक शब्द हैं (आ० नि० गा० १२३३)। इन शब्दों का भाव समझाने के लिए प्रत्येक शब्द की व्याख्या पर एक-एक दृष्टान्त दिया गया है, जो बहुत मनोरंजक है (आ०-नि०, गा० १२४२)।

१—स्वस्थानाद्यन्परस्थानं प्रमादस्य वशाद्गतः।

तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥१॥

२—प्रतिवर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।

निःशल्यस्य यतेर्यत् तद्वा श्रेयं प्रतिक्रमणम् ॥१॥

—आवश्यक—सूत्र, पृष्ठ ५५३।

प्रतिक्रमण का मतलब पीछे लौटना है—एक स्थिति में जाकर फिर मूल स्थिति को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण शब्द की इस सामान्य व्याख्या के अनुसार ऊपर बतलाई हुई व्याख्या के विरुद्ध अर्थात् अशुभ योग से हट कर शुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से अशुभ योग को प्राप्त करना यह भी प्रतिक्रमण कहा जा सकता है। अतएव यद्यपि प्रतिक्रमण के (१) प्रशस्त और (२) अप्रशस्त, ये दो भेद किये जाते हैं (आ०, पृ० ५५२), तो भी 'आवश्यक' क्रिया में जिस प्रतिक्रमण का समावेश है वह अप्रशस्त नहीं किन्तु प्रशस्त ही है; क्योंकि इस जगह अन्तर्दृष्टि वाले—आध्यात्मिक पुरुषों की ही आवश्यक-क्रिया का विचार किया जाता है।

(१) दैविक, (२) रात्रिक, (३) पात्रिक, (४) चातुर्मासिक और (५) सांवत्सरिक, ये प्रतिक्रमण के पाँच भेद बहुत प्राचीन तथा शास्त्रसंमत हैं; क्योंकि इनका उल्लेख श्री भद्रबाहुस्वामी भी करते हैं (आ० नि०, गा० १२४७)। कालभेद से तीन प्रकार का प्रतिक्रमण भी बतलाया है—(१) भूतकाल में लगे हुए दोषों को आलोचना करना, (२) संवर करके वर्तमान काल के दोषों से बचना और (३) प्रत्याख्यान द्वारा भविष्यत् दोषों को रोकना प्रतिक्रमण है (आ० पृ० ५५१)।

उत्तरोत्तर आत्मा के विशेष शुद्ध स्वरूप में स्थित होने की इच्छा करनेवाले अधिकारियों को यह भी जानना चाहिये कि प्रतिक्रमण किस-किस का करना चाहिए—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) कषाय और (४) अप्रशस्त योग—इन चार का प्रतिक्रमण करना चाहिए। अर्थात् मिथ्यात्व छोड़कर सम्यक्त्व को पाना चाहिए, अविरति का त्याग कर विरति को स्वीकार करना चाहिये, कषाय का परिहार करके ज्ञानादि गुण प्राप्त करना चाहिए और संसार बढ़ानेवाले व्यापारों को छोड़कर आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिए।

सामान्य रीति से प्रतिक्रमण (१) द्रव्य और (२) भाव, यों दो प्रकार का है। भावप्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्यप्रतिक्रमण नहीं। द्रव्यप्रतिक्रमण वह है, जो दिखावे के लिए किया जाता है। दोष का प्रतिक्रमण करने के बाद भी फिर से उस दोष को बार-बार सेवन करना, यह द्रव्य प्रतिक्रमण है। इससे आत्मा शुद्ध होने के बदले धिटाई द्वारा और भी दोषों की पुष्टि होती है। इस पर कुम्हार के बर्तनों को कंकर द्वारा बार-बार फोड़कर बार-बार मॉपी मॉगनेवाले एक लुल्लक-साधु का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। (५) धर्म या शुक्ल-ध्यान के लिए एकाग्र होकर शरीर पर से ममता का त्याग करना 'कायोत्सर्ग' है। कायोत्सर्ग को यथार्थ

रूप में करने के लिए इस के दोषों का परिहार करना चाहिए। वे घोटक अर्थात् दोष संक्षेप में उन्नीस हैं (आ० नि०, गा० १५४६-१५४७)।

कायोत्सर्ग से वेद की जड़ता और बुद्धि की जड़ता दूर होती है, अर्थात् वात आदि धातुओं की विषमता दूर होती है और बुद्धि की मन्दता दूर होकर विचार-शक्ति का विकास होता है। सुख-दुःख तितिक्षा अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के संयोगों में समभाव से रहने की शक्ति कायोत्सर्ग से प्रकट होती है। भावना और ध्यान का अभ्यास भी कायोत्सर्ग से ही पुष्ट होता है। अतिचार का चिन्तन भी कायोत्सर्ग में ठीक-ठीक हो सकता है। इस प्रकार देखा जाय तो कायोत्सर्ग बहुत महत्त्व की क्रिया है।

कायोत्सर्ग के अन्दर लिये जानेवाले एक श्वासोच्छ्वास का काल-परिमाण श्लोक के एकपाद के उच्चारण के काल-परिमाण जितना कहा गया है।

(६) त्याग करने को 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। त्यागने योग्य वस्तुएँ (१) द्रव्य और (२) भावरूप से दो प्रकार की हैं। अन्न, वस्त्र आदि बाह्य वस्तुएँ द्रव्यरूप हैं और अज्ञान, असंयम आदि वैभाविक परिणाम भावरूप हैं। अन्न, वस्त्र आदि बाह्य वस्तुओं का त्याग अज्ञान, असंयम आदि के त्याग द्वारा भाव त्याग-पूर्वक और भावत्याग के उद्देश्य से ही होना चाहिये। जो द्रव्यत्याग भावत्याग पूर्वक तथा भावत्याग के लिए नहीं किया जाता, उस आत्मा को गुण-प्राप्ति नहीं होती।

(१) श्रद्धान, (२) ज्ञान, (३) वंदन, (४) अनुपालन, (५) अनुभाषण और (६) भाव, इन छः शुद्धियों के सहित किया जानेवाला प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है (आ०, पृ० ५४७)।

प्रत्याख्यान का दूसरा नाम गुण-धारण है, सो इसलिए कि उससे अनेक गुण प्राप्त होते हैं। प्रत्याख्यान करने से आस्रव का निरोध अर्थात् संवर होता है। संवर से तृष्णा का नाश, तृष्णा के नाश से निरुपम समभाव और ऐसे समभाव से क्रमशः मोक्ष का लाभ होता है।

क्रम की स्वाभाविकता तथा उपपत्ति—जो अन्तर्दृष्टि वाले हैं, उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव-सामायिक प्राप्त करना है। इसलिए उनके प्रत्येक व्यवहार में समभाव का दर्शन होता है। अन्तर्दृष्टि वाले जब किसी को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे उनके वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते हैं। इस तरह वे समभाव-स्थित साधु पुरुषों को वन्दन-नमस्कार करना भी नहीं भूलते। अन्तर्दृष्टिवालों के जीवन में ऐसी स्फूर्ति-अप्रमत्तता होती है कि कदाचित् वे पूर्ववासना-वश या कुसंसर्ग-वश समभाव से गिर जाएँ, तब भी उस अप्रमत्तता के कारण प्रतिक्रमण करके वे अपनी पूर्व-प्राप्त स्थिति को

फिर पा लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व-स्थिति से आगे भी बढ़ जाते हैं। ध्यान ही आध्यात्मिक जीवन के विकास की कुंजी है। इसके लिए अन्तर्दृष्टि वाले बार-बार ध्यान-कायोत्सर्ग किया करते हैं। ध्यान द्वारा चित्त-शुद्धि करते हुए वे आत्म-स्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। अतएव जड़ वस्तुओं के भोग का परित्याग-प्रत्याख्यान भी उनके लिए साहजिक क्रिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध है कि आध्यात्मिक पुरुषों के उच्च तथा स्वाभाविक जीवन का पृथक्करण ही 'आवश्यक-क्रिया' के क्रम का आधार है।

जब तक सामायिक प्राप्त न हो, तब तक चतुर्विंशति-स्त्व भावपूर्वक क्रिया ही नहीं जा सकता; क्योंकि जो स्वयं समभाव को प्राप्त नहीं है, वह समभाव में स्थित महात्माओं के गुणों को जान नहीं सकता और न उनसे प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा ही कर सकता है। इसलिए सामायिक के बाद चतुर्विंशतिस्त्व है।

चतुर्विंशतिस्त्व का अधिकारी वन्दन को यथाविधि कर सकता है। क्योंकि जिसने चौबीस तीर्थकरों के गुणों से प्रसन्न होकर उनकी स्तुति नहीं की है, वह तीर्थकरों के मार्ग के उपदेशक सद्गुरु को भावपूर्वक वन्दन कैसे कर सकता है। इसी से वन्दन को चतुर्विंशतिस्त्व के बाद रखा है।

वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि आलोचना गुरु-समक्ष की जाती है। जो गुरु-वन्दन नहीं करता वह आलोचना का अधिकारी ही नहीं। गुरु-वन्दन के सिवाय की जानेवाली आलोचना नाममात्र की आलोचना है, उससे कोई साध्य-सिद्धि नहीं हो सकती। सच्ची आलोचना करनेवाले अधिकारी के परिणाम इतने नम्र और कोमल होते हैं कि जिससे वह आप ही आप गुरु के पैरों पर सिर नमाता है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण कर लेने पर ही आती है। इसका कारण यह है कि जब तक प्रतिक्रमण द्वारा पाप की आलोचना करके चित्त-शुद्धि न की जाय, तब तक धर्म-ध्यान या शुद्ध ध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकता। आलोचना के द्वारा चित्त-शुद्धि किये बिना जो कायोत्सर्ग करता है, उसके मुँह से चाहे किसी शब्द-विशेष का जप हुआ करे, लेकिन उसके दिल में उच्च ध्येय का विचार कभी नहीं आता। वह अनुभूत विषयों का ही चिन्तन किया करता है।

कायोत्सर्ग करके जो विशेष चित्त-शुद्धि, एकाग्रता और आत्मबल प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है। जिसने एकाग्रता प्राप्त नहीं की है और संकल्प-बल भी पैदा नहीं किया है, वह यदि प्रत्याख्यान कर भी ले तो भी उसका ठीक-ठीक निर्वाह नहीं कर सकता। प्रत्याख्यान सबसे ऊपर की 'आवश्यक-

क्रिया' है। उसके लिए विशिष्ट चित्त-शुद्धि और विशेष उत्साह की दरकार है, जो कायोत्सर्ग किये बिना पैदा नहीं हो सकते। इसी अभिप्राय से कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान रखा गया है।

इस प्रकार विचार करने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि छः 'आवश्यकों' का जो क्रम है, वह विशेष कार्य-कारण-भाव की शृङ्खला पर स्थित है। उसमें उल्ट-फेर होने से उस की वह स्वाभाविकता नहीं रहती, जो कि उसमें है।

'आवश्यक-क्रिया' की आध्यात्मिका—जो क्रिया आत्मा के विकास को लक्ष्य में रख कर की जाती है, वही आध्यात्मिक क्रिया है। आत्मा के विकास का मतलब उस के सम्यक्त्व, चेतन, चारित्र्य आदि गुणों की क्रमशः शुद्धि करने से है। इस कसौटी पर कसने से यह अभ्रान्त रीति से सिद्ध होता है कि 'सामायिक' आदि छहों 'आवश्यक' आध्यात्मिक हैं। क्योंकि सामायिक का फल पाप-जनक व्यापार की निवृत्ति है, जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का कारण है।

चतुर्विंशतिस्तव का उद्देश्य गुणानुराग की वृद्धि द्वारा गुण प्राप्त करना है, जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का साधन है।

वन्दन-क्रिया के द्वारा विनय की प्राप्ति होती है, मान खण्डित होता है, गुरु-जन की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुतधर्म की आराधना होती है, जो कि अन्त में आत्मा के क्रमिक विकास द्वारा मोक्ष के कारण होते हैं। वन्दन करनेवालों को नम्रता के कारण शास्त्र सुनने का अवसर मिलता है। शास्त्र-श्रवण द्वारा क्रमशः ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया और सिद्धि ये फल बतलाए गए हैं (आ०-नि०, गा० १२१५ तथा वृत्ति)। इसलिए वन्दन-क्रिया आत्मा के विकास का असंदिग्ध कारण है।

आत्मा वस्तुतः पूर्ण शुद्ध और पूर्ण बलवान् है, पर वह विविध वासनाओं के अनादि प्रवाह में पड़ने के कारण दोषों की अनेक तहों से दब-सा गया है; इसलिए जब वह ऊपर उठने का प्रयत्न करता है, तब उससे अनादि अभ्यास-वश भूलें हो जाना सहज है। वह जब तब उन भूलों का संशोधन न करे, तब तक इष्ट सिद्धि हो ही नहीं सकती। इसलिए पद-पद पर की हुई भूलों को याद करके प्रतिक्रमण द्वारा फिर से उन्हें न करने के लिए वह निश्चय कर लेता है। इस तरह से प्रतिक्रमण-क्रिया का उद्देश्य पूर्व दोषों को दूर करना और फिर से जैसे दोषों को न करने के लिए सावधान कर देना है, जिससे कि आत्मा दोष-

मुक्त हो कर धीरे-धीरे अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाय। इसी से प्रतिक्रमण-क्रिया आध्यात्मिक है।

कायोत्सर्ग चित्त की एकाग्रता पैदा करता है और आत्मा को अपना स्वरूप विचारने का अवसर देता है, जिससे आत्मा निर्भय बनकर अपने कठिनतम उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है। इसी कारण कायोत्सर्ग-क्रिया भी आध्यात्मिक है।

दुनियाँ में जो कुछ है, वह सब न तो भोगा ही जा सकता है और न भोगने के योग्य ही है तथा वास्तविक शान्ति अपरिमित भोग से भी सम्भव नहीं है। इसलिए प्रत्याख्यान-क्रिया के द्वारा मुमुक्षुगण अपने को व्यर्थ के भोगों से बचाते हैं और उसके द्वारा चिरकालीन आत्मा-शान्ति पाते हैं। अतएव प्रत्याख्यान क्रिया भी आध्यात्मिक ही है।

भाव-आवश्यक एक लोकोत्तर क्रिया है; क्योंकि वह लोकोत्तर (मोक्ष) के उद्देश्य से आध्यात्मिक लोगों के द्वारा उपयोग पूर्वक की जानेवाली क्रिया है। इसलिए पहिले उसका समर्थन लोकोत्तर (शास्त्रीय व निश्चय) दृष्टि से किया जाता है और पीछे व्यावहारिक दृष्टि से भी उसका समर्थन किया जाएगा। क्योंकि 'आवश्यक' है तो लोकोत्तर क्रिया, पर उसके अधिकारी व्यवहार-निष्ठ होते हैं।

जिन तत्त्वों के होने से ही मनुष्य का जीवन अन्य प्राणियों के जीवन से उच्च समझा जा सकता है और अन्त में विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है, वे तत्व ये हैं —

(१) समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र्य का संमिश्रण, (२) जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वोपरि जीवनवाले महात्माओं को आदर्शरूप से पसन्द करके उनकी और सदा दृष्टि रखना, (३) गुणवानों का बहुमान व विनय करना, (४) कर्त्तव्य की स्मृति तथा कर्त्तव्य-पालन में हो-जानेवाली गलतियों का अवलोकन करके निष्कपट भाव से उनका संशोधन करना और फिर से वैसी गलतियों न हों, इसके लिए आत्मा को जाग्रत करना; (५) ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिए विवेक-शक्ति का विकास करना और (६) त्याग-वृत्ति द्वारा संतोष व सहनशीलता को बढ़ाना।

इन तत्त्वों के आधार पर आवश्यक-क्रिया का महल खड़ा है। इसलिए शास्त्र

१—गुणवद्बहुमानावेर्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया ।

जातं न पातयेद्भावमजातं जनयेदपि ॥५॥

ज्ञायोपशमिकभावे या क्रिया क्रियते तथा ।

पतितस्यापि तद्भावप्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥६॥

कहता है कि 'आवश्यक-क्रिया' आत्मा को प्राप्त भाव शुद्धि से गिरने नहीं देती, उसको अपूर्व भाव भी प्राप्त कराती है तथा ज्ञायोपशिक-भाव-पूर्वक की जानेवाली क्रिया से पतित आत्मा की भी फिर से भाववृद्धि होती है। इस कारण गुणों की वृद्धि के लिए तथा प्राप्त गुणों से स्वलित न होने के लिए 'आवश्यक-क्रिया' का आचरण अत्यन्त उपयोगी है।

व्यवहार में आरोग्य, कौटुम्बिक नीति, सामाजिक नीति इत्यादि विषय सम्मिलित हैं।

आरोग्य के लिए मुख्य मानसिक प्रसन्नता चाहिए। यद्यपि दुनियाँ में ऐसे अनेक साधन हैं, जिनके द्वारा कुछ-न-कुछ मानसिक प्रसन्नता प्राप्त की जाती है, पर विचार कर देखने से यह मालूम पड़ता है कि स्थायी मानसिक प्रसन्नता उन पूर्वोक्त तत्त्वों के सिवाय किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकती, जिनके ऊपर 'आवश्यक-क्रिया' का आधार है।

कौटुम्बिक नीति का प्रधान साध्य सम्पूर्ण कुटुम्ब को सुखी बनाना है। इसके लिए छोटे-बड़े सब में एक दूसरे के प्रति यथोचित विनय, आज्ञा-पालन, नियम-शीलता और अप्रमाद का होना जरूरी है। ये सब गुण 'आवश्यक-क्रिया' के आधारभूत पूर्वोक्त तत्त्वों के पोषण से सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

सामाजिक नीति का उद्देश्य समाज को सुव्यवस्थित रखना है। इसके लिए विचार-शीलता, प्रामाणिकता, दीर्घदर्शिता और गम्भीरता आदि गुण जीवन में आने चाहिए, जो 'आवश्यक-क्रिया' के प्राणभूत छह तत्त्वों के सिवाय किसी तरह नहीं आ सकते।

इस प्रकार विचार करने से यह साफ जान पड़ता है कि शास्त्रीय तथा व्यवहारिक-दोनों दृष्टि से 'आवश्यक-क्रिया' का यथोचित अनुष्ठान परम लाभ-दायक है।

प्रतिक्रमण शब्द की रूढ़ि—

प्रतिक्रमण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रति + क्रमण = प्रतिक्रमण' ऐसी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ 'पीछे फिरना', इतना ही होता है, परन्तु रूढ़ि के बल से 'प्रतिक्रमण' शब्द सिर्फ चौथे 'आवश्यक' का तथा छह आवश्यक के समुदाय का भी बोध कराता है। अन्तिम अर्थ में उस शब्द की प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई

गुणवृद्धया ततः कुर्यात्क्रियामस्वत्तनाय वा ।

एकं तु संयमस्थानं जिनानामवतिष्ठते ॥७॥

—ज्ञानसार, क्रियाष्टक ।

है कि आजकल 'आवश्यक' शब्द का प्रयोग न करके सब कोई 'आवश्यकों' के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द काम में लाते हैं। इस तरह व्यवहार में और अर्वाचीन ग्रन्थों में 'प्रतिक्रमण' शब्द इस प्रकार से 'आवश्यक' शब्द का पर्याय हो गया है। प्राचीन ग्रन्थों में सामान्य 'आवश्यक' अर्थ में 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग कहीं देखने में नहीं आया। 'प्रतिक्रमणहेतुगर्भ', 'प्रतिक्रमण विधि', 'धर्मसंग्रह' आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में 'प्रतिक्रमण' शब्द सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रयुक्त है और सर्वसाधारण भी सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग अस्खलित रूप से करते हुए देखे जाते हैं।

'प्रतिक्रमण' के अधिकारी और उसकी रीति पर विचार

इस जगह 'प्रतिक्रमण' शब्द का मतलब सामान्य 'आवश्यक' अर्थात् लुः 'आवश्यकों' से है। यहाँ उसके संबन्ध में मुख्य दो प्रश्नों पर विचार करना है। (१) 'प्रतिक्रमण' के अधिकारी कौन हैं? (२) 'प्रतिक्रमण'—विधान की जो रीति प्रचलित है, वह शास्त्रीय तथा युक्तिसंगत है या नहीं?

प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि साधु और श्रावक दोनों 'प्रतिक्रमण' के अधिकारी हैं; क्योंकि शास्त्र में साधु और श्रावक दोनों के लिए सायंकालीन और प्रातःकालीन अवश्य-कर्तव्य-रूप से 'प्रतिक्रमण' का विधान है और अतिचार आदि प्रसंगरूप कारण हो या नहीं, पर प्रथम और चरम तीर्थंकर के 'शासन' में 'प्रतिक्रमण' सहित ही धर्म बतलाया^१ गया है।

दूसरा प्रश्न साधु तथा श्रावक—दोनों के 'प्रतिक्रमण' रीति से संबन्ध रखता है। सब साधुओं का चारित्र-विषयक लक्ष्योपशम न्यूनाधिक भले ही हो, पर सामान्य-रूप से वे सर्व विरतिवाले अर्थात् पञ्च महाव्रत को त्रिविध-त्रिविध-पूर्वक धारण करने वाले होते हैं। अतएव उन सबको अपने पञ्च महाव्रत में लगे हुए अतिचारों के संशोधन रूप से आलोचना या 'प्रतिक्रमण' नामक चौथा 'आवश्यक' समान रूप से करना चाहिए और उसके लिए सब साधुओं को समान ही आलोचना सूत्र पढ़ना चाहिए, जैसा कि वे पढ़ते हैं। पर श्रावकों के संबंध में तर्क

१—समयोगेण सावएण य, अयस्सकायव्वयं हवइ जम्हा ।

अन्ते अहोणिसस्स य तम्हा आवस्सयं नाम ॥२॥

—आवश्यक-वृत्ति, पृष्ठ ५३ ।

२—सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

मच्छिम्मयाण जिणायं, कारणजाए पडिक्कमणं ॥१२४४॥

—आवश्यक-निर्युक्ति ।

पैदा होता है। वह यह है कि श्रावक अनेक प्रकार के होते हैं। कोई केवल सम्यक्त्व वाला—अत्रती होता है, कोई अत्रती होता है। इस प्रकार किसी को अधिक से अधिक बारह तक व्रत होते हैं और सल्लेखना भी। व्रत भी किसी को द्विविध—त्रिविध से, किसी को एकविध—त्रिविध से, किसी को एकविध—द्विविध से इत्यादि नाना प्रकार का होता है। अतएव श्रावक विविध अभिग्रह वाले कहे गए हैं (श्रावश्यक-निर्युक्ति गा० १५५८ आदि)। भिन्न अभिग्रह वाले सभी श्रावक चौथे 'श्रावश्यक' के सिवाय शेष पाँच 'श्रावश्यक' जिस रीति से करते हैं और इसके लिए जो-जो सूत्र पढ़ते हैं इस विषय में तो शङ्का को स्थान नहीं है; पर वे चौथे 'श्रावश्यक' को जिस प्रकार से करते हैं और उसके लिए जिस सूत्र को पढ़ते हैं, उसके विषय में शङ्का अवश्य होती है।

वह यह कि चौथा 'श्रावश्यक' अतिचार-संशोधन-रूप है। ग्रहण किये हुए व्रत-नियमों में ही अतिचार लगते हैं। ग्रहण किये हुए व्रत-नियम सब के समान नहीं होते। अतएव एक ही 'वन्दित्तु' सूत्र के द्वारा सभी श्रावक-चाहे अत्रती हों या अत्रती—सम्यक्त्व, बारह व्रत तथा सल्लेखना के अतिचारों का जो संशोधन करते हैं, वह न्याय-संगत कैसे कहा जा सकता है? जिसने जो व्रत ग्रहण किया हो, उसको उसी व्रत के अतिचारों का संशोधन 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि द्वारा करना चाहिए। ग्रहण नहीं किए हुए व्रतों के गुणों का विचार करना चाहिए और गुण-भावना द्वारा उन व्रतों के स्वीकार करने के लिए आत्म-सामर्थ्य पैदा करना चाहिए। ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के अतिचार का संशोधन यदि युक्त समझा जाय तो फिर श्रावक के लिए पञ्च 'महाव्रत' के अतिचारों का संशोधन भी युक्त मानना पड़ेगा। ग्रहण किये हुए या ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के संबन्ध में श्रद्धा-विपर्यास हो जाने पर 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि द्वारा उस का प्रतिक्रमण करना, यह तो सब अधिकारियों के लिए समान है। पर यहाँ जो प्रश्न है, वह अतिचार-संशोधन-रूप प्रतिक्रमण के संबन्ध का ही है अर्थात् ग्रहण नहीं किये हुए व्रत नियमों के अतिचार-संशोधन के उस-उस सूत्रांश को पढ़ने की और 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि द्वारा प्रतिक्रमण करने की जो रीति प्रचलित है, उसका आधार क्या है?

इस शङ्का का समाधान इतना ही है कि अतिचार-संशोधन-रूप 'प्रतिक्रमण' तो ग्रहण किये हुए व्रतों का ही करना युक्ति-संगत है और तदनुसार ही सूत्रांश पढ़कर 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि देना चाहिए। ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के संबन्ध में श्रद्धा-विपर्यास का 'प्रतिक्रमण' भले ही किया जाए, पर अतिचार-संशोधन के लिए उस-उस सूत्रांश को पढ़कर 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि देने की

अपेक्षा उन व्रतों के गुणों की भावना करना तथा उन व्रतों को धारण करनेवाले उच्च श्रावकों को धन्यवाद देकर गुणानुराग पुष्ट करना ही युक्ति-संगत है।

अब प्रश्न यह है कि जब ऐसी स्थिति है, तब व्रती-अव्रती, छोटे-बड़े—सभी श्रावकों में एक ही 'वंदितु' सूत्र के द्वारा समान रूप से अतिचार का संशोधन करने की जो प्रथा प्रचलित है, वह कैसे चल पड़ी है ?

इसका खुलासा यह जान पड़ता है कि प्रथम तो सभी को 'आवश्यक' सूत्र पूर्णतया याद नहीं होता। और अगर याद भी हो, तब भी साधारण अधिकारियों के लिए अकेले की अपेक्षा समुदाय में ही मिलकर 'आवश्यक' करना लाभदायक माना गया है। तीसरे जब कोई सबसे उच्च श्रावक अपने लिए सर्वथा उपयुक्त सम्पूर्ण 'वंदितु' सूत्र पढ़ता है, तब प्राथमिक और माध्यमिक सभी अधिकारियों के लिए उपयुक्त वह-वह सूत्रांश भी उसमें आ ही जाता है। इन कारणों से ऐसी समुदायिक प्रथा पड़ी है कि एक व्यक्ति सम्पूर्ण 'वंदितु' सूत्र पढ़ता है और शेष श्रावक उच्च अधिकारी श्रावक का अनुकरण करके सब व्रतों के संबन्ध में अतिचार का संशोधन करने लग जाते हैं। इस समुदायिक प्रथा के रूढ़ हो जाने के कारण जब कोई प्राथमिक या माध्यमिक श्रावक अकेला प्रतिक्रमण करता है, तब भी वह 'वंदितु' सूत्र को सम्पूर्ण ही पढ़ता है और ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के अतिचार का भी संशोधन करता है।

इस प्रथा के रूढ़ हो जाने का एक कारण यह और भी मालूम पड़ता है कि सर्वसाधारण में विवेक की यथेष्ट मात्रा नहीं होती। इसलिए 'वंदितु' सूत्र में से अपने-अपने लिए उपयुक्त सूत्रांशों को चुनकर बोलना और शेष सूत्रांशों को छोड़ देना, यह काम सर्वसाधारण के लिए जैसा कठिन है, वैसा ही विषमता तथा गोलमाल पैदा करनेवाला भी है। इस कारण यह नियम रखा गया है कि जब सभा को या किसी एक व्यक्ति को 'पच्चक्खाण' कराया जाता है, तब ऐसा सूत्र पढ़ा जाता है कि जिसमें अनेक 'पच्चक्खाणों' का समावेश हो जाता है, जिससे सभी अधिकारी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार 'पच्चक्खाण' कर लेते हैं।

इस दृष्टि से यह कहना पड़ता है कि 'वंदितु' सूत्र अल्पिडित रूप से पढ़ना न्याय व शास्त्र-संगत है। रही अतिचार-संशोधन में विवेक करने की बात, सो उसको विवेकी अधिकारी खुशी से कर सकता है। इसमें प्रथा बाधक नहीं है।

१—अखण्डं सूत्रं पठनीयमिति न्यायात्—धर्मसंग्रह, पृष्ठ २२३।

‘प्रतिक्रमण’ पर होने वाले आक्षेप और उनका परिहार—

‘आवश्यक-क्रिया’ की उपयोगिता तथा महत्ता नहीं समझनेवाले अनेक लोग उस पर आक्षेप किया करते हैं। वे आक्षेप मुख्य चार हैं। पहला समय का, दूसरा अर्थ-ज्ञान का, तीसरा भाषा का और चौथा अरुचि का।

(१) कुछ लोग कहते हैं कि ‘आवश्यक-क्रिया’ इतनी लम्बी और बेसमय की है कि उसमें फँस जाने से घूमना-फिरना और विश्रान्ति करना कुछ भी नहीं होता। इससे स्वास्थ्य और स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। इसलिए ‘आवश्यक-क्रिया’ में फँसने की कोई जरूरत नहीं है। ऐसा कहनेवालों को समझना चाहिए कि साधारण लोग प्रमादशील और कर्तव्य-ज्ञान से शून्य होते हैं। इसलिए जब उनको कोई खास कर्तव्य करने को कहा जाता है, तब वे दूसरे कर्तव्य की महत्ता दिखाकर पहले कर्तव्य से अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं और अन्त में दूसरे कर्तव्य को भी छुड़ा देते हैं। घूमने-फिरने आदि का बहाना निकालनेवाले वास्तव में आलसी होते हैं। अतएव वे निरर्थक बात, गपड़े आदि में लग कर ‘आवश्यक-क्रिया’ के साथ धीरे-धीरे घूमना-फिरना और विश्रान्ति करना भी भूल जाते हैं। इसके विपरीत जो अप्रमादी तथा कर्तव्यज्ञ होते हैं, वे समय का यथोचित उपयोग करके स्वास्थ्य के सब नियमों का पालन करने के उपरान्त ‘आवश्यक’ आदि धार्मिक क्रियाएँ को करना नहीं भूलते। जरूरत सिर्फ प्रमाद के त्याग करने की और कर्तव्य का ज्ञान करने की है।

(२) दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि ‘आवश्यक-क्रिया’ करनेवालों में से अनेक लोग उसके सूत्रों का अर्थ नहीं जानते। वे तोते की तरह ज्यों का त्यों सूत्र मात्र पढ़ लेते हैं। अर्थ ज्ञान न होने से उन्हें उस क्रिया में रस नहीं आता है अतएव वे उस क्रिया को करते समय या तो सोते रहते या कुतूहल आदि से मन बहलाते हैं। इसलिए ‘आवश्यक-क्रिया’ में फँसना बन्धन-मात्र है। ऐसा आक्षेप करने वालों के उक्त कथन से ही यह प्रमाणित होता है कि यदि अर्थ-ज्ञान-पूर्वक ‘आवश्यक-क्रिया’ की जाय तो सफल हो सकती है। शास्त्र भी यही बात कहता है। उसमें उपयोग पूर्वक क्रिया करने को कहा है। उपयोग ठीक-ठीक तभी रह सकता है, जब कि अर्थ-ज्ञान हो, ऐसा होने पर भी यदि कुछ लोग अर्थ बिना समझे ‘आवश्यक क्रिया’ करते हैं और उससे पूरा लाभ नहीं उठा सकते तो उचित यही है कि ऐसे लोगों को अर्थ का ज्ञान हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा न करके मूल ‘आवश्यक’ वस्तु को ही अनुपयोगी समझना वां ऐसा है जैसा कि विधि न जानने से किया अविधिपूर्वक सेवन करने से फायदा न देखकर

कीमती रसायन को अनुपयोगी समझना। प्रयत्न करने पर भी वृद्ध-श्रवस्था, मतिमन्दता आदि कारकों से जिनको अर्थ ज्ञान न हो सके, वे अन्य किसी ज्ञानी के आश्रित होकर ही धर्म-क्रिया करके उससे फायदा उठा सकते हैं। व्यवहार में भी अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं, जो ज्ञान की कमी के कारण अपने काम को स्वतन्त्रा से पूर्णतापूर्वक नहीं कर सकते, वे किसी के आश्रित हो कर ही काम करते हैं और उससे फायदा उठाते हैं। ऐसे लोगों की सफलता का कारण मुख्यतया उनकी श्रद्धा ही होती है। श्रद्धा का स्थान बुद्धि से कम नहीं है। अर्थ-ज्ञान होने पर भी धार्मिक क्रियाओं में जिनको श्रद्धा नहीं है, वे उन से कुछ भी फायदा नहीं उठा सकते। इसलिए श्रद्धापूर्वक धार्मिक क्रिया करते रहना और भरसक उसके सूत्रों का अर्थ भी जान लेना, यही उचित है।

(३) अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि 'आवश्यक-क्रिया' के सूत्रों की रचना जो संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन शास्त्रीय भाषा में है, इसके बदले वह प्रचलित लोक-भाषा में ही होना चाहिए। जब तक ऐसा न हो तब तक 'आवश्यक-क्रिया' विशेष उपयोग नहीं हो सकती। ऐसा कहनेवाले लोग मन्त्रों की शाब्दिक महिमा तथा शास्त्रीय भाषाओं की गम्भीरता, भावमयता, ललितता आदि गुण नहीं जानते। मन्त्रों में आर्थिक महत्त्व के उपरान्त शाब्दिक महत्त्व भी रहता है, जो उनको दूसरी भाषा में परिवर्तन करने से लुप्त हो जाता है। इसलिए जो-जो मन्त्र जिस-जिस भाषा में बने हुए हों, उनको उसी भाषा में रखना ही योग्य है। मन्त्रों को छोड़कर अन्य सूत्रों का भाव प्रचलित लोक-भाषा में उतारा जा सकता है, पर उसकी वह खूबी कभी नहीं रह सकती, जो कि प्रथमकालीन भाषा में है।

'आवश्यक-क्रिया' के सूत्रों को प्रचलित लोक-भाषा में रचने से प्राचीन महत्त्व के साथ-साथ धार्मिक-क्रिया कालीन एकता का भी लोप हो जाएगा और सूत्रों की रचना भी अनवस्थित हो जाएगी। अर्थात् दूर-दूर देश में रहनेवाले एक धर्म के अनुयायी जब तीर्थ आदि स्थान में इकट्ठे होते हैं, तब आचार, विचार, भाषा, पहनाव आदि में भिन्नता होने पर भी वे सब धार्मिक क्रिया करते समय एक ही सूत्र पढ़ते हुए और एक ही प्रकार की विधि करते हुए पूर्ण एकता का अनुभव करते हैं। यह एकता साधारण नहीं है। उसको बनाए रखने के लिए धार्मिक क्रियाओं के सूत्रपाठ आदि को शास्त्रीय भाषा में कायम रखना बहुत जरूरी है। इसी तरह धार्मिक क्रियाओं के सूत्रों की रचना प्रचलित लोक-भाषा में होने लगेगी तो हर जगह समय-समय पर साधारण कवि भी अपनी कवित्व-शक्ति का उपयोग नए-नए सूत्रों को रचने में करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि एक ही प्रदेश में जहाँ की भाषा एक है, अनेक कर्त्ताओं के अनेक सूत्र

हो जाएँगे और विशेषता का विचार न करनेवाले लोगों में जिसके मन में जो आया, वह उसी कर्ता के सूत्रों को पढ़ने लगेगा। जिससे अपूर्व भाववाले प्राचीन सूत्रों के साथ-साथ एकता का भी लोप हो जाएगा। इसलिए धार्मिक क्रिया के सूत्र-पाठ आदि जिस-जिस भाषा में पहले से बने हुए हैं, वे उस-उस भाषा में ही पढ़े जाने चाहिए। इसी कारण वैदिक, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदायों में 'संध्या' आदि नित्य कर्म प्राचीन शास्त्रीय भाषा में ही किये जाते हैं।

यह ठीक है कि सर्वसाधारण की रुचि बढ़ाने के लिए प्रचलित लोक-भाषा की भी कुछ कृतियों ऐसी होनी चाहिए, जो धार्मिक क्रिया के समय पढ़ी जाएँ। इसी बात को ध्यान में रखकर लोक-रुचि के अनुसार समय-समय पर संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं में स्तोत्र, स्तुति, सज्भाष्य, स्तवन आदि बनाए हैं और उनको 'आवश्यक-क्रिया' में स्थान दिया है। इससे यह फायदा हुआ कि प्राचीन सूत्र तथा उनका महत्त्व ज्यों का त्यों बना हुआ है और प्रचलित लोक-भाषा की कृतियों में साधारण जनता की रुचि भी पुष्ट होती रहती है।

(४) कितने लोगों का यह भी कहना है कि 'आवश्यक-क्रिया' अरुचिकर है—उसमें कोई रस नहीं आता। ऐसे लोगों को जानना चाहिए कि रुचि या अरुचि बाह्य वस्तु का धर्म नहीं है; क्योंकि कोई एक चीज सबके लिए रुचिकर नहीं होती। जो चीज एक प्रकार के लोगों के लिए रुचिकर है, वही दूसरे प्रकार के लोगों के लिए अरुचिकर हो जाती है। रुचि, यह अन्तःकरण का धर्म है। किसी चीज के विषय में उसका होना न होना उस वस्तु के ज्ञान पर अवलम्बित है। जब मनुष्य किसी वस्तु के गुणों को ठीक-ठीक जान लेता है, तब उसकी उस वस्तु पर प्रबल रुचि हो जाती है। इसलिए 'आवश्यक-क्रिया' को अरुचिकर बतलाना, यह उसके महत्त्व तथा गुणों का अज्ञान-मात्र है।

जैन और अन्य-सम्प्रदायों का 'आवश्यक-कर्म'—सन्ध्या आदि

'आवश्यक-क्रिया' के मूल तत्त्वों को दिखाते समय यह सूचित कर दिया गया है कि सभी अन्तर्दृष्टि वाले आत्माओं का जीवन सम-भावमय होता है। अन्तर्दृष्टि किसी खास देश या खास काल की शृङ्खला में आबद्ध नहीं होती। उसका आविर्भाव सब देश और सब काल के आत्माओं के लिए साधारण होता है। अतएव उसको पाना तथा बढ़ाना सभी आध्यात्मिकों का ध्येय बन जाता है। प्रकृति, योग्यता और निमित्त-भेद के कारण इतना तो होना स्वाभाविक है कि किसी देश-विशेष, किसी काल-विशेष और किसी व्यक्ति-विशेष में अन्तर्दृष्टि का विकास कम होता है और किसी में अधिक होता है। इसलिए आध्यात्मिक जीवन

को ही वास्तविक जीवन सम्भन्नेवाले तथा उस जीवन की वृद्धि चाहनेवाले सभी सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने अपने-अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का, उस जीवन के तत्त्वों का तथा उन तत्त्वों का अनुसरण करते समय जानते-अनजानते हो जानेवाली गलतियों को सुधार कर फिर से वैसा न करने का उपदेश दिया है। यह हो सकता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय-प्रवर्तकों की कथन-शैली भिन्न हो, भाषा भिन्न हो और विचार में भी न्यूनाधिकता हो; पर यह कदापि संभव नहीं कि आध्यात्मिक जीवन-निष्ठ उपदेशकों के विचार का मूल एक न हो। इस जगह 'आवश्यक-क्रिया' प्रस्तुत है। इसलिए यहाँ सिर्फ उस के संबन्ध में ही भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का विचार-साम्य दिखाना उपयुक्त होगा। यद्यपि सब प्रसिद्ध सम्प्रदायों की सन्ध्या का थोड़ा बहुत उल्लेख करके उनका विचार-साम्य दिखाने का इरादा था; पर यथेष्ट साधन न मिलने से इस समय थोड़े में ही संतोष कर लिया जाता है। यदि इतना भी उल्लेख पाठकों को रुचिकर हुआ तो वे स्वयं ही प्रत्येक सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थों को देखकर प्रस्तुत विषय में अधिक जानकारी कर लेंगे। यहाँ सिर्फ जैन, बौद्ध, वैदिक और जरथोस्ती अर्थात् पारसी धर्म का वह विचार दिखाया जाता है।

बौद्ध लोग अपने मान्य 'त्रिपिटक' ग्रन्थों में से कुछ सूत्रों को लेकर उनका नित्य पाठ करते हैं। एक तरह से वह उनका अवश्य कर्तव्य है। उसमें से कुछ वाक्य और उनसे मिलते-जुलते 'प्रतिक्रमण' के वाक्य नीचे दिये जाते हैं—

बौद्ध:—

(१) नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा संबुद्धस्स ।

बुद्धं सरणं गच्छामि । धम्मं सरणं गच्छामि । संघं सरणं गच्छामि ।

—लघुपाठ, सरणत्थ ।

(२) पाणातिपाता वेरमणिं सिक्खापदं समादियामि । अदिन्नादाना वेरमणिं सिक्खापदं समादियामि । कामेसु मिच्छाचारा वेरमणिं सिक्खापदं समादियामि । मुसावादा वेरमणिं सिक्खापदं समादियामि । सुराभेरयमज्जपमादहाना वेरमणिं सिक्खापदं समादियामि ।

—लघुपाठ, पंचसील ।

(३) असेवना च बालानं पण्डितानं च सेवना ।

पूजा च पूजनीयानं एतं मंगलमुत्तमं ॥

मातापितु उपह्वानं पुत्तदारस्स संगहो ।

अनाकुला च कम्मन्ता एतं मंगलमुत्तमं ॥

दानं च धम्मचरिया च जातकानं च संगहो ।
 अनवज्जानि कम्मानी एतं मंगलमुत्तमं ॥
 आरति विरति पापा मज्जपाना च संयमो ।
 अप्पमादो च धम्मेसु एतं मंगलमुत्तमं ॥
 खन्ति च सोवचस्सता, समणानं च दस्सनं ।
 कालेन धम्मसाकच्छा एतं मंगलमुत्तमं ॥

—लघुपाठ, मंगलमुत्त ।

(४) सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सव्वे सत्ता भवन्तु सुखिनत्ता ॥
 माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे ।
 एवंपि सव्वभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं ॥
 मेत्तं च सव्वलोकस्मिन् मानसं भावये अपरिमाणं ।
 उद्धं अधो च तिरियं च असंवाधं अवेरं असपत्तं ॥

—लघुपाठ, मेत्तमुत्त (१) ।

जैन—

(१) नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं ।

चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहन्ते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि,
 साहू सरणं पवज्जामि, केवलीपणणत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥

(२) थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाई, थूलगमुत्तावायं समणो-
 वासओ पच्चक्खाई, थूलगअदत्तादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, परदारगमणं
 समणोवासओ पच्चक्खाई, सदारसंतोसं वा पडिवज्जइ । इत्यादि ।

—आवश्यक-सूत्र, पृ० ८१८-८२३ ।

(३) लोगविरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआ परत्थकरणं च ।
 सुहगुरुजोगो तत्त्वयणसेवणा आभवमखंडा ॥
 दुक्खखओ कम्मखओ, समाहिमरणं च बोहिलाभो अ ।
 संपज्जउ मह एयं, तुह नाह पणामकरणेणं ॥

—जय वीयराय ।

(४) मित्ती में सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई ॥
 शिवमस्तु सर्वजगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
 दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकाः ॥

वैदिक सन्ध्या के मन्त्र व वाक्य—

(१) “ममोपासतदुरितक्षयाय श्रीपरमेश्वरप्रीतये प्रातः सन्ध्योपासनमहं करिष्ये ।”
—संकल्प-वाक्य ।

(२) ॐ सूर्यश्च मा मनुश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यद् रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिङ्गना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत् किञ्चिद् दुरितं मयीदमहममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ।
—कृष्ण यजुर्वेद ।

(३) ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही धियो यो नः प्रचोदयेत् ।
—गायत्री ।

जैन—

(१) पावच्छिस्त विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं ।

(२) जं जं मणोणं बद्धं, जं जं वाएण भासियं पावं ।
जं जं काएण कयं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स ॥

(३) चन्देसु निम्मलपरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगम्भीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ॥

पारसी लोग नित्यप्रार्थना तथा नित्यपाठ में अपनी असली धार्मिक किताब ‘अवस्ता’ का जो-जो भाग काम में लाते हैं, वह ‘खोरदेह अवस्ता’ के नाम से प्रसिद्ध है। उसका मजमून अनेक अंशों में जैन, बौद्ध तथा वैदिक-संप्रदाय में प्रचलित सन्ध्या के समान है। उदाहरण के तौर पर उसका थोड़ा सा अंश हिंदी भाषा में नीचे दिया जाता है।

अवस्ता के मूल वाक्य इसलिए नहीं उद्धृत किए हैं कि उसके खास अक्षर ऐसे हैं, जो देवनागरी लिपि में नहीं हैं। विशेष जिज्ञासु मूल पुस्तक से असली पाठ देख सकते हैं।

(१) दुश्मन पर जीत हो । —खोरदेह अवस्ता, पृ० ७ ।

(२) मैंने मन से जो बुरे विचार किये, ज्ञान से जो तुच्छ भाषण किया और शरीर से जो हलका काम किया; इत्यादि प्रकार से जो-जो गुनाह किये, उन सब के लिए मैं पश्चात्ताप करता हूँ ।

—खो० अ०, पृ० ७ ।

(३) वर्तमान और भावी सब धर्मों में सब से बड़ा, सब से अच्छा और

सर्व-श्रेष्ठ धर्म 'जरथोश्टी' है। मैं यह बात मान लेता हूँ कि 'जरथोश्टी' धर्म ही सब कुछ पाने का कारण है।

—खो० अ०, पृ० ६।

(४) अभिमान, गर्व, मरे हुए लोगों की निन्दा करना, लोभ, लालच, बेहद गुस्सा, किसी की बदती देखकर जलना, किसी पर बुरी निगाह करना, स्वच्छन्दता, आलस्य, काना-फूँसी, पवित्रता का भङ्ग, भूठी गवाही, चोरी, लूट-खसोट, व्यभिचार, बेहद शौक करना, इत्यादि जो गुनाह मुझसे जानते-अनजानते हो गए हों और जो गुनाह साफ दिल से मैंने प्रकट न किये हों, उन सबसे मैं पवित्र हो कर अलग होता हूँ।

—खो० अ०, पृ० २३-२४।

(१) शत्रवः पराङ्मुखः भवन्तु स्वाहा।

—बृहत् शान्ति।

(२) काएण काइयस्स, पडिक्कमे वाइयस्स वायाए।
मणसा माणसियस्स, संव्वस्स वयाइयारस्स॥

—वदिस्स।

(३) सर्वमंगलमांगल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति शासनम्॥

(४) अठारह पापस्थान की निन्दा।

‘आवश्यक’ का इतिहास

‘आवश्यक-क्रिया’—अन्तर्दृष्टि के उन्मेष व आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ से ‘आवश्यक-क्रिया’ का इतिहास शुरू होता है। सामान्यरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि विश्व में आध्यात्मिक जीवन सबसे पहले कत्र शुरू हुआ। इस लिए ‘आवश्यक-क्रिया’ भी प्रवाह की अपेक्षा से अनादि ही मानी जाती है।

‘आवश्यक-सूत्र’—जो व्यक्ति सच्चा आध्यात्मिक है, उसका जीवन स्वभाव से ही ‘आवश्यक-क्रिया’-प्रधान बन जाता है। इसलिए उसके हृदय के अन्दर से ‘आवश्यक-क्रिया’-द्योतक ध्वनि उठा ही करती है। परन्तु जब तक साधक-अवस्था हो, तब तक व्यावहारिक, धार्मिक—सभी प्रवृत्ति करते समय प्रमादवश ‘आवश्यक-क्रिया’ में से उपयोग बदल जाने का और इसी कारण ताद्विषयक अन्तर्ध्वनि भी बदल जाने का बहुत संभव रहता है। इसलिए ऐसे अधिकारियों को लक्ष्य में रखकर ‘आवश्यक-क्रिया’ को याद कराने के लिए महर्षियों ने खास-खास समय नियत किया है और ‘आवश्यक-क्रिया’ को याद करानेवाले

सूत्र भी रचे हैं, जिससे कि अधिकारी लोग खास नियत समय पर उन सूत्रों के द्वारा 'आवश्यक-क्रिया' को याद कर अपने आध्यात्मिक जीवन पर दृष्टिपात करें। अतएव 'आवश्यक क्रिया' के दैवसिक, रात्रिक, पादिक, आदि पाँच भेद प्रसिद्ध हैं। 'आवश्यक-क्रिया' के इस काल-कृत विभाग के अनुसार उसके सूत्रों में भी यत्र-तत्र भेद आ जाता है। अब देखना यह है कि इस समय जो 'आवश्यक-सूत्र' है, वह कब बना है और उसके रचयिता कौन हैं ?

पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि 'आवश्यक-सूत्र' ईस्वी सन् से पूर्व पाँचवीं शताब्दि से लेकर चौथी शताब्दि के प्रथम पाद तक में किसी समय रचा हुआ होना चाहिए। इसका कारण यह है कि ईस्वी सन् से पूर्व पाँच सौ छब्बीसवें वर्ष में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। वीर-निर्वाण के बीस वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी का निर्वाण हुआ। सुधर्मा स्वामी गणधर थे। 'आवश्यक-सूत्र' न तो तीर्थंकर की ही कृति है और न गणधर की। तीर्थंकर की कृति इसलिए नहीं कि वे अर्थ का उपदेशमात्र करते हैं, सूत्र नहीं रचते। गणधर सूत्र रचते हैं सही, पर 'आवश्यक-सूत्र' गणधर-रचित न होने का कारण यह कि उस सूत्र की गणना अङ्गबाह्यश्रुत में है। अङ्गबाह्यश्रुत का लक्षण श्री उमास्वाती ने अपने तत्त्वार्थ-भाष्य में यह किया है कि जो श्रुत, गणधर की कृति नहीं है और जिसकी रचना गणधर के बाद के परम मेधावी आचार्यों ने की है, वह 'अङ्गबाह्यश्रुत' कहलाता है।^१

ऐसा लक्षण करके उसका उदाहरण देते समय उन्होंने सबसे पहले सामायिक आदि छह 'आवश्यकों' का उल्लेख किया है और इसके बाद दशवैकालिक आदि अन्य सूत्रों का^२। यह ध्यान रखना चाहिए दशवैकालिक, श्री शब्यंभव सूत्र जो सुधर्मा स्वामी के बाद तीसरे आचार्य हुए, उनकी कृति है। अङ्गबाह्य होने के कारण 'आवश्यक-सूत्र', गणधर श्री सुधर्मा स्वामी के बाद के किसी आचार्य का रचित माना जाना चाहिए। इस तरह उसके रचना के काल की

१— गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्यैः कालसंभननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहात् यत्प्रोक्तं तदङ्गबाह्यमिति ।

—तत्त्वार्थ-अध्याय १, सूत्र २० का भाष्य ।

२— अङ्गबाह्यमनेकविधम् । तद्यथा—सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रति-क्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकमुत्तराध्यायाः दशाः कल्पव्यव-हारौ निशीथमृषिभाषितान्येवमादि ।

—तत्त्वार्थ-अ० १, सूत्र २० का भाष्य ।

पहली मियाद अधिक से अधिक ईस्वी सन् से पहिले लगभग पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ तक ही बताई जा सकती है। उसके रचना काल की उत्तर अवधि अधिक से अधिक ईस्वी सन् से पूर्व चौथी शताब्दी का प्रथम चरण ही माना जा सकता है; क्योंकि चतुर्दश-पूर्व-धर श्री भद्रबाहु स्वामी जिनका अवसान ईस्वी सन् से पूर्व तीन सौ छप्पन वर्ष के लगभग माना जाता है, उन्होंने 'आवश्यक-सूत्र' पर सबसे पहले व्याख्या लिखी है, जो निर्युक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह तो प्रसिद्ध है कि निर्युक्ति ही श्री भद्रबाहु की है, संपूर्ण मूल 'आवश्यक-सूत्र' नहीं। ऐसी अवस्था में मूल 'आवश्यक-सूत्र' अधिक से अधिक उनके कुछ पूर्ववर्ती या समकालीन किसी अन्य श्रुतधर के रचे हुए मानने चाहिए। इस दृष्टि से यही मालूम होता है कि 'आवश्यक' का रचना-काल ईस्वी सन् से पूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी के प्रथम चरण तक में होना चाहिए।

दूसरा प्रश्न कर्ता का है। 'आवश्यक-सूत्र' के कर्ता कौन व्यक्ति हैं? उसके कर्ता कोई एक ही आचार्य हैं या अनेक हैं? इस प्रश्न के प्रथम अंश के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दूसरे अंश का उत्तर यह है कि 'आवश्यक-सूत्र' किसी एक की कृति नहीं है। अलवत्ता यह आश्चर्य की बात है कि संभवतः 'आवश्यक-सूत्र' के बाद तुरन्त ही या उसके सम-समय में रचे जानेवाले दशवैकालिक के कर्तारूप से श्री शय्यंभव सूरी का निर्देश स्वयं श्री भद्रबाहु ने किया है (दशवैकालिक-निर्युक्ति, गा० १४-१५); पर 'आवश्यक-सूत्र' के कर्ता का निर्देश नहीं किया है। श्री भद्रबाहु स्वामी निर्युक्ति रचते समय जिन दस आगमों की निर्युक्ति करने की जो प्रतिज्ञा करते हैं, उसमें दशवैकालिक के भी पहले 'आवश्यक' का उल्लेख है^२। यह कहा जा चुका है कि दशवैकालिक श्री शय्यंभव सूरी की

१—प्रसिद्ध कहने का मतलब यह है कि श्री शीलाङ्क सूरी अपनी आचारङ्ग-वृत्ति में सूचित करते हैं कि 'आवश्यक' के अन्तर्गत चतुर्विंशतिस्तव (लोगस) ही श्री भद्रबाहुस्वामी ने रचा है—आवश्यकान्तर्भूतश्चतुर्विंशतिस्तवस्त्वारतीय-कालभाविना श्रीभद्रबाहुस्वामिनाऽकारि' पृ० ८३। इस कथन से यह साफ जान पड़ता है कि शीलाङ्क सूरी के जमाने में यह बात मानी जाती थी कि सम्पूर्ण 'आवश्यक-सूत्र' श्री भद्रबाहु की कृति नहीं है।

२—आवस्तगस दसकालिअस तह उतरज्भमायारे।

सूयगडे निज्जुत्ति, बुच्छामि तहा दसाणं च ॥ ८४ ॥

कप्पस य निज्जुत्ति, ववहारस्सेव परमणिउणस्स।

सुरिअपणणतीए बुच्छं इसिभासिआणं च ॥ ८५ ॥

कृति है। यदि दस आंगमों के उल्लेख का क्रम, काल-क्रम का सूचक है तो यह मानना पड़ेगा कि 'आवश्यक-सूत्र' श्री शर्यभभव सूरि के पूर्ववर्ती किसी अन्य स्थविर की, किंवा शर्यभभव सूरि के समकालीन किन्तु उनसे बड़े किसी अन्य स्थविर की कृति होनी चाहिए। तत्त्वार्थ-भाष्य-गत 'गणधरानन्त्यादिभिः' इस अंश में वर्तमान 'आदि' पद से तीर्थंकर-गणधर के बाद के अन्यवहित स्थविर की तरह तीर्थंकर-गणधर के समकालीन स्थविर का भी ग्रहण किया जाय तो 'आवश्यक-सूत्र' का रचना-काल ईस्वी सन् से पूर्व अधिक से अधिक छठी शताब्दि का अन्तिम चरण ही माना जा सकता है और उसके कर्तारूप से तीर्थंकर-गणधर के समकालीन कोई स्थविर माने जा सकते हैं। जो कुछ हो, पर इतना निश्चित जान पड़ता है कि तीर्थंकर के समकालीन स्थविरों से लेकर भद्रबाहु के पूर्ववर्ती या समकालीन स्थविरों तक में से ही किसी की कृति 'आवश्यक-सूत्र' है।

मूल 'आवश्यक-सूत्र' का: परीक्षण-विधि—मूल 'आवश्यक' कितना है अर्थात् उसमें कौन-कौन सूत्र सन्निविष्ट हैं, इसकी परीक्षा करना जरूरी है; क्योंकि आजकल साधारण लोग यही समझ रहे हैं कि 'आवश्यक-क्रिया' में जितने सूत्र पढ़े जाते हैं, वे सब मूल 'आवश्यक' के ही हैं। मूल 'आवश्यक' को पहचानने के उपाय दो हैं—पहला यह कि जिस सूत्र के ऊपर शब्दशः किंवा अधिकांश शब्दों की सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति हो, वह सूत्र मूल 'आवश्यक'-गत है। और दूसरा उपाय यह है कि जिस सूत्र के ऊपर शब्दशः किंवा अधिकांश शब्दों की सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति नहीं है; पर जिस सूत्र का अर्थ सामान्य रूप से भी निर्युक्ति में वर्णित है या जिस सूत्र के किसी-किसी शब्द पर निर्युक्ति है या जिस सूत्र की व्याख्या करते समय आरम्भ में टीकाकर श्री हरिभद्र सूरि ने 'सूत्रकार आह' तच्च इदं सूत्रं, इमं सूत्रं' इत्यादि प्रकार का उल्लेख किया है, वह सूत्र भी मूल 'आवश्यक'-गत समझना चाहिए।

पहले उपाय के अनुसार 'नमुक्कार, करेमि भंते, लोकास्स, इच्छामि खमासमणो, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, नमुक्कारसहिय आदि पञ्चखाण—' इतने सूत्र मौलिक जान पड़ते हैं।

दूसरे उपाय के अनुसार 'चत्तारि मंगलं, इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ, इरियावहियाए, पगामसिज्जाए, पडिक्कमामि गोयरचरियाए, पडिक्कमामि चाउक्कालं, पडिक्कमामि एगविहे, नमो चउविसाए, इच्छामि ठाइउं काउस्सगं, सब्वलोए अरिइंतवेइयाणं, इच्छामि खमासमणो उवट्ठिओमि अम्भितर पक्खियं, इच्छामि खमासमणो पियं च में, इच्छामि खमासमणो पुव्वि चेइ

याहं, इच्छामि खमासमणो उव्वट्टियोमि तुब्भएहं, इच्छामि खमासमणो कयाहं च मे, पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कम्मइ कित्तिकम्मा—इतने सूत्र मौलिक जान पड़ते हैं ।

तथा इनके अलावा 'तत्थ समणोवासओ, धूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, धूलगमुसावार्यं,' इत्यादि जो सूत्र श्रावक-धर्म-संबन्धी अर्थात् सम्यक्त्व, बारह व्रत और संलेखनाविषयक हैं तथा जिनके आधार पर 'वंदित्तु' की पद्य-बन्ध रचना हुई है, वे सूत्र भी मौलिक जान पड़ते हैं । यद्यपि इन सूत्रों के पहले टीकाकार ने 'सूत्रकार आह, सूत्र' इत्यादि शब्दों का उल्लेख नहीं किया है तथापि 'प्रत्याख्यान-आवश्यक' में निर्युक्तिकार ने प्रत्याख्यान का सामान्य स्वरूप दिखाते समय अभिग्रह की विविधता के कारण श्रावक के अनेक भेद बतलाए हैं । जिससे जान पड़ता है । श्रावक-धर्म के उक्त सूत्रों को लक्ष्य में रखकर ही निर्युक्तिकार ने श्रावक-धर्म की विविधता का वर्णन किया है ।

आजकल की सामाचार्य में जो प्रतिक्रमण की स्थापना की जाती है, वहाँ से लेकर 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' की स्तुति पर्यन्त में ही छह 'आवश्यक' पूर्ण हो जाते हैं । अतएव यह तो स्पष्ट ही है कि प्रतिक्रमण की स्थापना के पूर्व किए जानेवाले चैत्य-चन्दन का भाग और 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' की स्तुति के बाद पढ़े जाने वाले सज्ज्जाय, स्तवन, शान्ति आदि, ये सब छह 'आवश्यक' के बहिर्भूत हैं । अतएव उनका मूल 'आवश्यक' में न पाया जाना स्वाभाविक ही है । भाषा दृष्टि से देखा जाय तो भी यह प्रमाणित है कि अप्रभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी व गुजराती भाषा के गद्य-पद्य मौलिक ही नहीं सकते; क्योंकि सम्पूर्ण मूल 'आवश्यक' प्राकृत-भाषा में ही है । प्राकृत-भाषा-मय गद्य-पद्य में से जितने सूत्र उक्त दो उपायों के अनुसार मौलिक बतलाए गए हैं, उनके अलावा अन्य सूत्र को मूल 'आवश्यक'-गत मानने का प्रमाण अभी तक हमारे ध्यान में नहीं आया है । अतएव यह समझना चाहिए कि छह 'आवश्यकों' में 'सात लाख, अठारह पापस्थान, आयरिय-उवज्जाए, वेयावच्चगराणं, पुक्खरवरदीवड्ढे, सिद्धाणं बुद्धाणं, सुअ-देवया भगवई आदि थुई और 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' आदि जो-जो पाठ बोले जाते हैं, वे सब मौलिक नहीं हैं । यद्यपि 'आयरियउवज्जाए, पुक्खरवरदीवड्ढे, सिद्धाणं बुद्धाणं' ये मौलिक नहीं हैं तथापि वे प्राचीन हैं; क्योंकि उनका उल्लेख करके श्री हरिभद्र सूरि ने स्वयं उनकी व्याख्या की है ।

प्रस्तुत परीक्षण-विधि का यह मतलब नहीं है कि जो सूत्र मौलिक नहीं है, उसका महत्त्व कम है । यहाँ तो सिर्फ इतना ही दिखाना है कि देश, काल और

रुचि के परिवर्तन के साथ-साथ 'आवश्यक'-क्रियोपयोगी सूत्र की संख्या में तथा भाषा में किस प्रकार परिवर्तन होता गया है ।

यहाँ यह सूचित कर देना अनुपयुक्त न होगा कि आजकल दैवसिक-प्रतिक्रमण में 'सिद्धार्ण बुद्धार्ण' के बाद जो श्रुतदेवता तथा क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग किया जाता है और एक-एक स्तुति पढ़ी जाती है, वह भाग कम से कम श्री हरि-भद्रसुरि के समय में प्रचलित प्रतिक्रमण-विधि में सन्निविष्ट न था; क्योंकि उन्होंने अपनी टीका में जो विधि दैवसिक-प्रतिक्रमण की दी है, उसमें 'सिद्धार्ण' के बाद प्रतिलेखन वन्दन करके तीन स्तुति पढ़ने का ही निर्देश किया है—(आवश्यक-वृत्ति, पृ० ७६०) ।

विधि-विषयक सामाचारी-भेद पुराना है; क्योंकि मूल-टीकाकार-संमत विधि के अलावा अन्य विधि का भी सूचन श्री हरिभद्रसुरि ने किया है (आवश्यक-वृत्ति, पृ० ७६३) ।

उस समय पाक्षिक-प्रतिक्रमण में क्षेत्रदेवता का काउत्सर्ग प्रचलित नहीं था; पर शय्यादेवता का काउत्सर्ग किया जाता था । कोई-कोई चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण में भी शय्यादेवता का काउत्सर्ग करते थे और क्षेत्रदेवता का काउत्सर्ग तो चातुर्मासिक और सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण में प्रचलित था—आवश्यक-वृत्ति, पृ० ४६४; भाष्य गाथा २३३ ।

इस जगह मुख पर मुँहपत्ती बाँधनेवालों के लिए यह बात खास अर्थसूचक है कि श्री भद्रबाहु के समय में भी काउत्सर्ग करते समय मुँहपत्ती हाथ में रखने का ही उल्लेख है—आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० ७६७, गाथा १५४५ ।

मूल 'आवश्यक' के टीका-ग्रन्थ—'आवश्यक', यह साधु-श्रावक-उभय की महत्वपूर्ण क्रिया है । इसलिए 'आवश्यक-सूत्र' का गौरव भी वैसा ही है । यही कारण है कि श्री भद्रबाहु स्वामी ने दस निर्युक्ति रचकर तत्कालीन प्रथा के अनुसार उसकी प्राकृत-पद्य-मय टीका लिखी । यही 'आवश्यक' का प्राथमिक टीका-ग्रन्थ है । इसके बाद संपूर्ण 'आवश्यक' के ऊपर प्राकृत-पद्य-मय भाष्य बना, जिसके कर्ता अज्ञात हैं । अनन्तर चूर्णा बनी, जो संस्कृत-मिश्रित प्राकृत-गद्य-मय है और जिसके कर्ता संभवतः जिनदास गणि हैं ।

अब तक भाषा-विषयक यह लोक-रुचि कुछ बदल गई थी । यह देखकर समय-सूचक आचार्यों ने संस्कृत-भाषा में भी टीका लिखना आरम्भ कर दिया था । तदनुसार 'आवश्यक' के ऊपर भी कई संस्कृत-टीकाएँ बनी, जिनका सूचन श्री हरिभद्र सुरि ने इस प्रकार किया है—

‘यद्यपि मया तथान्यैः, कृतास्य विवृतिस्तथापि संक्षेपात् ।

तद्वचसित्वानुग्रहहेतोः क्रियते प्रयासोऽयम् ॥

जान पड़ता है कि वे संस्कृत-टीकाएँ संक्षिप्त रही होंगी।—आवश्यक-वृत्ति, पृ० १ अतएव श्री हरिभद्रसूरि ने ‘आवश्यक’ के ऊपर एक बड़ी टीका लिखी, जो उपलब्ध नहीं है; पर जिसका सूचन वे स्वयं ‘मया’ इस शब्द से करते हैं और जिसके संबन्ध की परंपरा का निर्देश श्री हेमचन्द्र मलधारी अपने ‘आवश्यक-टिप्पण’—पृ० १ में करते हैं ।

बड़ी टीका के साथ-साथ श्री हरिभद्र सूरि ने संपूर्ण ‘आवश्यक’ के ऊपर छोटी टीका भी लिखी, जो मुद्रित हो गई है, जिसका परिमाण चाईस हजार श्लोक का है, जिसका नाम ‘शिष्यहिता’ है और जिसमें संपूर्ण मूल ‘आवश्यक’ तथा उसकी निर्युक्ति की संस्कृत में व्याख्या है। इसके उपरान्त उस टीका में मूल, भाष्य तथा चूर्णा का भी कुछ भाग लिया गया है। श्री हरिभद्रसूरि की इस टीका के ऊपर श्री हेमचन्द्र मलधारी ने टिप्पण लिखा है। श्री मलयगिरि सूरि ने भी ‘आवश्यक’ के ऊपर टीका लिखी है, जो करीब दो अध्ययन तक की है और अभी उपलब्ध है। यहाँ तक तो हुई संपूर्ण ‘आवश्यक’ के टीका-ग्रन्थों की बात; पर उनके अलावा केवल प्रथम अध्ययन, जो सामायिक अध्ययन के नाम से प्रसिद्ध है, उस पर भी बड़े-बड़े टीका-ग्रन्थ बने हुए हैं। सबसे पहले सामायिक अध्ययन की निर्युक्ति के ऊपर श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने प्राकृत-पद्य-मय भाष्य लिखा जो विशेषावश्यक भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह बहुत बड़ा आकर ग्रन्थ है। इस भाष्य के ऊपर उन्होंने स्वयं संस्कृत-टीका लिखी है। कोट्याचार्य, जिनका दूसरा नाम शीलाङ्क है और जो आचाराङ्ग तथा सूत्र-कृताङ्ग के टीकाकार हैं, उन्होंने भी उक्त विशेषावश्यक भाष्य पर टीका लिखी है। श्री हेमचन्द्र मलधारी की भी उक्त भाष्य पर बहुत गम्भीर और विशद टीका है।

‘आवश्यक’ और श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय

‘आवश्यक-क्रिया जैनत्व का प्रधान अङ्ग है। इसलिए उस क्रिया का तथा उस क्रिया के सूचक ‘आवश्यक-सूत्र’ का जैन-समाज की श्वेताम्बर-दिगम्बर, इन दो शाखाओं में पाया जाना स्वाभाविक है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में साधु-परंपरा अविच्छिन्न चलते रहने के कारण साधु-श्रावक दोनों की ‘आवश्यक-क्रिया’ तथा ‘आवश्यक-सूत्र’ अभी तक मौलिक रूप में पाये जाते हैं। इसके विपरीत दिगम्बर-सम्प्रदाय में साधु-परंपरा विरल और विच्छिन्न हो जाने के कारण साधु संबन्धी ‘आवश्यक-क्रिया’ तो लुप्तप्राय है ही, पर उसके साथ-साथ उस सम्प्रदाय में

आवक-संबन्धी 'आवश्यक-क्रिया' भी बहुत अंशों में विरल हो गई है। अतएव दिगम्बर-संप्रदाय के साहित्य में 'आवश्यक-सूत्र' का मौलिक रूप में संपूर्णतया न पाया जाना कोई अचरज की बात नहीं।

फिर भी उसके साहित्य में एक 'मूलाचार' नामक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसमें साधुओं के आचारों का वर्णन है। उस ग्रन्थ में छह 'आवश्यक' का भी निरूपण है। प्रत्येक 'आवश्यक' का वर्णन करने वाली गाथाओं में अधिकांश गाथाएँ वही हैं, जो श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध श्री भद्रबाहुकृत निर्युक्ति में हैं।

मूलाचार का समय ठीक ज्ञात नहीं; पर वह है प्राचीन। उसके कर्ता श्री वट्टकेर स्वामी हैं। 'वट्टकेर', यह नाम ही सूचित करता है कि मूलाचार के कर्ता संभवतः कर्णाटक में हुए होंगे। इस कल्पना की पुष्टि का कारण एक यह भी है कि दिगम्बर-सम्प्रदाय के प्राचीन बड़े-बड़े साधु, भट्टारक और विद्वान् अधिकतर कर्णाटक में ही हुए हैं। उस देश में दिगम्बर-सम्प्रदाय का प्रभुत्व वैसा ही रहा है, जैसा गुजरात में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का।

मूलाचार में श्री भद्रबाहुकृत निर्युक्ति-गत गाथाओं का पाया जाना बहुत अर्थ-सूचक है। इससे श्वेताम्बर-दिगम्बर-संप्रदाय की मौलिक एकता के समय का कुछ प्रतिभास होता है। अनेक कारणों से यह कल्पना नहीं की जा सकती है कि दोनों संप्रदाय का भेद रूढ़ हो जाने के बाद दिगम्बर-आचार्य ने श्वेताम्बर-संप्रदाय द्वारा सुरक्षित 'आवश्यक-निर्युक्ति' गत गाथाओं को लेकर अपनी कृति में ज्यों का त्यों किंचा कुछ परिवर्तन करके रख दिया है।

दक्षिण देश में श्री भद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास हुआ, यह तो प्रमाणित ही है, अतएव अधिक संभव यह है कि श्री भद्रबाहु की जो एक शिष्य-परंपरा दक्षिण में रही और आगे जाकर जो दिगम्बर-संप्रदाय-रूप में परिणत हो गई, उसने अपनी गुरु की कृति को स्मृति-पथ में रक्खा और दूसरी शिष्य परंपरा, जो उत्तर हिंदुस्तान में रही, एवं आगे जाकर बहुत अंशों में श्वेताम्बर-संप्रदाय रूप में परिणत हो गई, उसने भी अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ अपने गुरु की कृति को सन्हाल रक्खा। क्रमशः दिगम्बर-संप्रदाय में साधु-परंपरा विरल होती चली; अतएव उसमें सिर्फ 'आवश्यक-निर्युक्ति' ही नहीं, बल्कि मूल 'आवश्यक-सूत्र' भी वृष्टित और विरल हो गया।

इसके विपरीत श्वेताम्बर संप्रदाय की अविच्छिन्न साधु-परंपरा ने सिर्फ मूल 'आवश्यक-सूत्र' को ही नहीं, बल्कि उसकी निर्युक्ति को सुरक्षित रखने के पुरण-कार्य के अलावा उसके ऊपर अनेक बड़े-बड़े टीका-ग्रन्थ लिखे और तत्कालीन

आचार-विचार का एक प्रामाणिक संग्रह ऐसा बना रखना कि जो आज भी जैन-धर्म के असली रूप को विशिष्ट रूप में देखने का एक प्रबल साधन है।

अब एक प्रश्न यह है कि दिगम्बर-संप्रदाय में जैसे निर्युक्ति अंशमात्र में भी पाई जाती है, वैसे मूल 'आवश्यक' पाया जाता है या नहीं? अभी तक उस संप्रदाय के 'आवश्यक-क्रिया' संबन्धी दो ग्रन्थ हमारे देखने में आए हैं। जिनमें एक मुद्रित और दूसरा लिखित है। दोनों में सामाजिक तथा प्रतिक्रमण के पाठ हैं। इन पाठों में अधिकांश भाग संस्कृत है, जो मौलिक नहीं है। जो भाग प्राकृत है, उसमें भी निर्युक्ति के आधार से मौलिक सिद्ध होनेवाले 'आवश्यक-सूत्र' का अंश बहुत कम है। जितना मूल भाग है, वह भी श्वेताम्बर-संप्रदाय में प्रचलित मूल पाठ की अपेक्षा कुछ न्यूनाधिक या कहीं-कहीं रूपान्तरित भी हो गया है।

'नमुक्कार, करेमि भंते, लोगस्स. तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, जो मे देवसिञ्चो अइयारो कओ, इरियावहियाए, चत्तारि मंगलं. पडिकमामि एगविहे, इणमेव निग्गन्धपावयणं तथा वंदित्तु के स्थानापन्न. अर्थात् श्रावकधर्म-सम्यक्त्व, बारह व्रत, और संलेखना के अतिचारों के प्रतिक्रमण का गद्य भाग', इतने मूल 'आवश्यक-सूत्र' उक्त दो दिगम्बर-ग्रन्थों में हैं।

इनके अतिरिक्त, जो बृहत्प्रतिक्रमण-नामक भाग लिखित प्रति में है, वह श्वेताम्बर-संप्रदाय-प्रसिद्ध पक्खिय सूत्र से मिलता-जुलता है। हमने विस्तार-भय से उन सब पाठों का यहाँ उल्लेख न करके उनका सूचनमात्र किया है। मूलाचार-गत 'आवश्यक-निर्युक्ति' की सब गाथाओं को भी हम यहाँ उद्धृत नहीं करते। सिर्फ दो-तीन गाथाओं को देकर अन्य गाथाओं के नम्बर नीचे लिख देते हैं, जिससे जिज्ञासु लोग स्वयं ही मूलाचार तथा 'आवश्यक-निर्युक्ति' देख कर मिलान कर लेंगे।

प्रत्येक 'आवश्यक' का कथन करने की प्रतिज्ञा करते समय श्री वट्टकेर स्वामी का यह कथन कि 'मैं प्रस्तुत 'आवश्यक' पर निर्युक्ति कहूँगा'—(मूलाचार, गा० ५१७, ५३७, ५७४, ६११, ६३१, ६४७), यह अवश्य अर्थ-सूचक है; क्योंकि संपूर्ण मूलाचार में 'आवश्यक का भाग छोड़कर अन्य प्रकरण में 'निर्युक्ति' शब्द एक-आध जगह आया है। पडावश्यक के अन्त में भी उस भाग को श्री वट्टकेर स्वामी निर्युक्ति के नाम से ही निर्दिष्ट किया है (मूलाचार, गा० ६२६, ६६०)

इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय श्री भद्रबाहु-कृत निर्युक्ति का जितना भाग दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित रहा होगा, उसको संपूर्ण किंवा

अंशतः उन्होंने अपने ग्रन्थ में सन्निविष्ट कर दिया। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में पाँचवाँ 'आवश्यक' कायोत्सर्ग और छठा प्रत्याख्यान है। नियुक्ति में छह 'आवश्यक' का नाम-निर्देश करनेवाली गाथा में भी वही क्रम है; पर मूलाचार में पाँचवाँ 'आवश्यक' प्रत्याख्यान और छठा कायोत्सर्ग है।

खमामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
 मेत्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मभं ण केण वि ॥ बृहत्प्रतिक० ।
 खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
 मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मभं न केणई ॥ आव०, पृ० ७६५ ।
 एसो पंचणामोयारो, सव्वपावपणासणो ।
 मंगलेसु य सव्वेसु, पढमं हवदि मंगलं ॥ ५१४ ॥ मूला० ।
 एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
 मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ १३२ ॥ आव०नि० ।
 सामाइयंमि दु कदे, समणो इव सावओ हवदि जग्हा ।
 एदेन कारणेण दु, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ ५३१ ॥ मूला० ।
 सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवई जग्हा ।
 एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ ८०१ ॥ आव० नि० ।

मूला०, गा० नं० । आव०-नि०, गा० नं०	मूला०, गा० नं० । आव०-नि०, गा० नं०
५०४	५३६ (लोगस १,७)
५०५	५४० १०५८
५०७	५४१ १०५७
५१०	५४४ १६५
५११	५४६ १६७
५१२	१००२ ५४६ १६६
५१४	१३२ ५५० २०१
५२४	(भाष्य, १४६) ५५१ २०२
५२५	७६७ ५५२ १०५६
५२६	७६८ ५५३ १०६०
५३०	७६९ ५५५ १०६२
५३१	८०१ ५५६ १०६१
५३३	१२४५ ५५७ १०६३, १०६४
५३८	(भाष्य, १६०) ५५८ १०६५

मूला०, गा०नं० । आव०नि०, गा०नं०	मूला०, गा०नं० । आव०नि०, गा०नं०
५५६	१०६६
५६०	१०६६
५६१	१०७६
५६३	१०७७
५६४	१०६६
५६५	१०६३
५६६	१०६४
५६७	१०६५
५६८	१०६६
५६९	१०६७
५७६	११०२
५७७	११०३
५७८	१२१७
५६२	११०५
५६३	११०७
५६४	११६१
५६५	११०६
५६६	११६३
५६७	११६८
५६९	१२००
६००	१२०१
६०१	१२०२
६०३	१२०७
६०४	१२०८
६०५	१२०६
६०६	१२१०
	६०७
	६०८
	६१०
	६१२
	६१३
	६१४
	६१५
	६१७
	६२१
	६२६
	६३२
	६३३
	६४०
	६४२
	६४३
	६४५
	६४८
	६५६
	६६८
	६६९
	६७१
	६७४
	६७५
	६७६
	६७७
	१२११
	१२११
	१२१२
	१२२५
	१२३३
	१२४७
	१२३१
	१२३२
	१२५०
	१२४३
	१२४४
	(भाष्य, २६३)
	१५६५
	(भाष्य, २४६)
	२५०
	२५१
	१५५६
	१४८७
	१४५८
	१५४६
	१५४७
	१५४१
	१४७६
	१४६८
	१४६०
	१४६२

['पंचप्रतिक्रमण' की प्रस्तावना]